ज्ञान शान्ति मैत्री

बहुवचन

ज्ञान, शान्ति, मैत्री

बहुवचन

हिन्दी की अन्तरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

प्रधान सम्पादक
प्रो. जी. गोपीनाथन

प्रभारी सम्पादक
डॉ. डी. एन. प्रसाद

सहायक सम्पादक
राकेश श्रीमाल

हिन्दी प्रौद्योगिकी

सूचना प्रौद्योगिकी और हिन्दी — प्रो. विजय कुलश्रेष्ठ — 96

अनुक्रमिक व्याकरण : एक संगणकीय पक्ष — प्रो. महेन्द्र कुमार सी. पाण्डेय — 112

साक्षात्कार

प्रेरणा ही काव्य का कारक हेतु है — प्रो. सियाराम तिवारी
(डॉ. भूपेन्द्र हरदेनिया से प्रो. सियाराम तिवारी की बातचीत) — 124

संस्कृति

मैंने लाखों के बोल सहे — डॉ. निरंजन सहाय — 131

स्त्री-विमर्श के आइने में मीरा का काव्य — डॉ. चन्द्रभान सिंह यादव — 138

महात्मा गांधी की मार-विजय — डॉ. मनोज कुमार राय — 144

धर्म और आधुनिकता — डॉ. बशिष्ठ नारायण सिन्हा — 152

निरंजन सहाय

मैंने लाखों के बोल सहे

(लोकसंस्कृति मूलक चेतना और रेणु की कहानियाँ)

"सारे हिन्दी लेखकों को.....गाँवों में भेजना चाहिए, एकदम ! गाँवों में किसानों के साथ काम करें-और किसी को 'उससे ज़्यादा कुछ' करना हो तो खान में ज़रा भेजें !...ये हिन्दी के लेखक, जो सब अपने को 'जनता' समझ बैठे हैं। जो सोचते हैं कि वे सब-कुछ जान गये हैं, लिखने को जान गये हैं, राष्ट्रभाषा उनकी हो गयी है.... और असल में इनकी ग़रीबी का, बौद्धिक ग़रीबी का हिसाब नहीं है। ये और कुछ जानते ही नहीं, धान का पेड़ होता है या पौधा-यही ये नहीं जानते। मगर ये समस्या उठायेंगे मज़दूरों की ! जिनसे इनका दूर का भी रिश्ता नहीं।" फणीश्वर नाथ रेणु (जर्मनी के विद्वान डॉ. लोठार लुट्से द्वारा रेणु के साक्षात्कार का एक अंश, रेणु रचनावली-भाग-4, पृ.सं.435)

स्वाधीनता के बाद के हिन्दी रचनाकारों में अपनी लोकसंस्कृति मूलक चेतना और आस्था के कारण फणीश्वरनाथ रेणु बेहद सम्मानित कथाकार हैं। वे हिन्दी के उन बिरले कथाकारों में हैं, जो विचार एवं भाव की मार्मिकता के साथ-साथ भाषा और जुबान की अभूतपूर्व ध्वनि संवेदना के सहृदय पारखी हैं। लोक भाषा को लेकर उनकी जागरूकता और संवेदनशीलता का अंदाज इससे लगाया जा सकता है, कि उन्होंने अनेक कहानियों के छः, सात ड्राफ्ट सिर्फ इसलिए तैयार किए कि उन्हें उन कहानियों की भाषा, पात्र और परिवेश के अनुकूल नहीं लगती थी। उनकी पहली परिपक्व कहानी 27 अगस्त, 1944 को 'विश्वामित्र' साप्ताहिक में 'बटबाबा' शीर्षक से प्रकाशित हुयी। इसमें उन्होंने गाँव के उस पुराने वटवृक्ष की कहानी कही है, जिससे ग्रामीण जीवन की असंख्य स्मृतियाँ जुड़ी हैं। कहना न होगा यह उनकी कथा-संवेदना का वह पक्ष है, जिससे उनके लोक रंग से संपन्न सरोकारों का पता चलता है। उनकी अंतिम कहानी 'भित्तिचित्र की मयूरी' शीर्षक से छपी। उनतीस बरसों के लंबे रचनात्मक-अनुभव में उनके कथा-शिल्प और ट्रीटमेंट में बहुत बदलाव आये, पर जिस निजी विशेषता की उपस्थिति उनकी कहानियों में शुरू से आखीर तक रही, वह है कहानियों में उपस्थित उनकी वह नज़र जो तेज़ी से बदलती ग्रामीण रंग, परिवेश और संवेदनास्त्रोत पर अपनी पकड़ बरकरार रखती है।

रेणु की कहानियों में गाँव सजीव है, अपनी पूरी ईमानदारी के साथ, 'जहाँ शूल भी है, धूल भी है तथा सुंदरता और कुरूपता भी।' जनवरी, 1958 में 'कहानी' पत्रिका का विशेषांक प्रकाशित हुआ था, इसमें नामवर सिंह ने रेणु की कहानी की केन्द्रीय विशेषता को इस प्रकार लक्षित किया, 'निःसंदेह इन (विभिन्न अंचलों या जनपदों के लोक-जीवन को लेकर लिखी गई) कहानियों में ताज़गी है और प्रेमचंद की गाँव पर लिखी गई कहानियों से एक हद तक नवीनता भी।...फणीश्वरनाथ रेणु, मार्कण्डेय, केशव मिश्र, शिवप्रसाद सिंह की कहानियों से इस दिशा में आशा बँधती दिखाई दे रही है। सवाल यह है कि प्रेमचंद और रेणु, दोनों के कथा संसार में कहाँ अंतर है। मोटे तौर पर इस अंतर को दो तरह से लक्षित किया जा सकता है। पहला तो यह कि प्रेमचंद के गाँव आदर्शवाद से निकल नहीं पाए, उनका गाँव मानो यह कहता था कि हममें असंख्य बुराइयाँ हैं, लेकिन वे सब आरोपित हैं, सही अर्थ में हमारा जीवन आदर्श है। इससे अलग रेणु ने ग्राम्य यथार्थ को लगभग निर्मम तथा बेलौस ढंग से प्रस्तुत किया, किन्तु हताश ढंग से नहीं बल्कि समस्त बुराइयों के बीच एक अखंड मानवी विश्वास के स्त्रोत के साथ। दूसरा यह कि उन्होंने गंवई जीवन की सांस्कृतिक सम्पन्नता को ख़ास तौर पर लक्षित किया। प्रेमचंद के कथा-संसार में उपस्थित अधिकांश पात्र भी उसी परिवेश के हैं, पर वहाँ शोषण और उत्पीड़न को विशेष तौर पर चित्रित किया गया है। कहना न होगा 'साधारण' मनुष्य के पूरे चित्र के अंकन में इन दोनों विशेषताओं की भूमिका निर्विवाद है। भारत यायावर का कथन इस संदर्भ में उल्लेखनीय है, जिसे रेणु रचनावली भाग-1 के संपादन क्रम में उन्होंने लिखा है, 'प्रेमचंद और रेणु दोनों के पात्र निम्नवर्गीय हरिजन, किसान, लोहार, बढ़ई, चर्मकार, कर्मकार आदि हैं। दोनों कथाकारों ने साधारण पात्रों की जीवन कथा की रचना की है, पर दोनों के कथा-विन्यास, रचना-दृष्टि और 'ट्रीटमेंट' में बहुत फर्क है। प्रेमचंद की अधिकांश कहानियों में इन उपेक्षित और उत्पीड़ित पात्रों का आर्थिक शोषण या उनकी सामंती और महाजनी व्यवस्था के फंदे में पड़ी हुई दारूण स्थिति का चित्रण है, जबकि रेणु ने इन सताये हुए शोषित पात्रों की सांस्कृतिक सम्पन्नता, मन की कोमलता और रागात्मकता तथा कलाकारोचित प्रतिभा का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। प्रेमचंद रूसी कथाकार मैक्सिन गोर्की के करीब पड़ते हैं, जबकि रेणु मिखाइल शोलोखोव के। इस तरह रेणु एक अलग ही परंपरा की शुरूआत करते हैं। ये दोनों महान कथा-शिल्पी मिलकर उस 'साधारण' मनुष्य का पूरा चित्र दे पाते हैं।'

धरती की साधारण से साधारण घटना के भीतर की मार्मिक सम्वेदना की अद्‌भुत तथा गहरी पकड़ थी-रेणु को। किसान जीवन के वह हस्तक्षेप जिस पर आमतौर पर हमारी नज़र नहीं जाती, उसकी सूक्ष्म पहचान रेणु को थी। निर्मल वर्मा इसे लक्षित करते हुए कहते हैं :- 'बिहार के एक छोटे भूखंड की हथेली पर उन्होंने समूचे उत्तरी भारत के किसान की नियति रेखा को उजागर किया था। ये रेखा किसान की किस्मत और इतिहास के हस्तक्षेप के बीच गूँथी हुयी थी, जहाँ गाँधी जी का सत्याग्रह आन्दोलन, सोशलिस्ट पार्टी के आदर्श, किसान-सभाओं की मीटिंग अलग-अलग धागों से रेणु का संसार बुनती है। सैकड़ों पात्र आते हैं, जाते हैं-उनकी गति, उनका ठहराव, उनकी ऊहा-पोह और आत्मसंघर्ष एक पूरी 'इमेज' हम पर अंकित कर जाता है। सिनेमा के पर्दे पर हम जैसे आंइस्टाईन की फिल्मों में व्यक्ति

और समूह, चलती हुई भीड़ में स्तब्ध चेहरे और उनका गत्यात्मक द्वन्द्व, हलचल और तनाव देखते हैं, बिल्कुल वैसे पूर्णिया के पर्दे पर उसकी पीठिका में हम भारतीय ग्रामवासी और इतिहास के बीच मुठभेड़ और टकराव की गड़गड़ाहट सुनते हैं।' आलोचकों का एक वर्ग रेणु की आलोचना इस आधार पर करता है कि उन्होंने यातना भरे जीवन की उत्सवधर्मी चेतना को उजागर कर प्रतिबद्धता को क्षति पहुँचायी है। पर ध्यान देने लायक बात है कि वे मनुष्य की यातना को किसी सिद्धान्त वाक्य के तराजू पर तोलनेवाले सर्जक नहीं थे, वे तो यातना की उपस्थिति समूचे जीवन के बीच देखते थे। यहाँ रेणु की वह टिप्पणी याद आती है, जिसमें वे विनम्रतापूर्वक अपनी उस दृष्टि का परिचय देते हैं, जो अपने विस्तार में पूरे परिवेश को समाहित कर लेती है, 'मेरे साधारण पाठक मेरी स्पष्टवादिता तथा सपाटबयानी से सदा संतुष्ट हुये हैं और साहित्य के राजदार पंडित-कथाकार-आलोचकों ने हमेशा नाराज़ होकर मुझे 'एक जीवन दर्शन हीन-अपदार्थ-अप्रतिबद्ध-व्यर्थ रोमांटिक प्राणी' प्रमाणित किया है।.....सारे तालाब को गँदला करने वाला जीव ! इसके बावजूद कभी मुझसे इससे ज़्यादा नहीं बोला गया कि अपनी कहानियाँ में मैं अपने को ढूँढ़ता फिरता हूँ : अपने को अर्थात् आदमी !......'

ग्रामीण जीवन के विभिन्न पारम्परिक आनन्द पर्वो, उत्सवों, व्यथा और पीड़िओं, गीतों-संघर्षो, प्रकृति के रंगों, प्राचीन-नवीन जीवन मूल्यों इत्यादि से संयुक्त रेणु के कथानक हिन्दी कथा साहित्य की उल्लेखनीय उपलब्धि है। अब तक प्रकाशित रेणु के कथा संग्रह हैं- 'ठुमरी' (राजकमल प्रकाशन, 1959), 'आदिम रात्रि की महक' (राधाकृष्ण प्रकाशन, 1967), 'अगिनखोर' (संभावना प्रकाशन, हापुड़), 'एक श्रावणी दोपहरी की धूप' (राजकमल प्रकाशन, 1984), 'अच्छे आदमी' (राजकमल प्रकाशन, 1986), 'मेरी प्रिय कहानियाँ' (राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 1983), 'भित्तिचित्र की मयूरी', रेणु रचनावली, भाग-1 (राजकमल प्रकाशन, 1995)।

उनकी कहानियों में नयी कहानी की मोह आसक्ति या नयी कहानी की परवर्ती कथाओं की विशेषता-मोहभंग-इन दोनों ही अतिवादों से हटकर एक लोकसंस्कृतिमूलक अटूट आस्था है। लोकसंस्कृति के केन्द्र गाँव के प्रति उनमें न तो विरहजन्य आकुलता है और न जड़वादी चिन्तन। मूल्यों की ध्वस्त होती परम्परा में टूटता व्यक्तित्व या परिवेश उनकी रचनाओं में मार्मिकता से अभिव्यक्ति पाता है। परन्तु यह टूटता व्यक्तित्व या परिवेश अद्वितीय होने के रोमानी साँच का शिकार नहीं है। साधारण के बीच असाधारण की उपस्थिति की दृष्टि रेणु को एक आत्मीय कथाकार बनाती है। सुरेन्द्र चौधरी की टिप्पणी गौरतलब है, 'जीवन में साधारण भी है और असाधारण झलक जाता है। जिन्हें हम सामान्यतः भावहीन सत्ताओं की तरह देखते हैं, उनमें भी भावनाएँ उसी तरह हैं, जिस तरह आत्मलीन सत्ताओं में हैं। रेणु आत्मलीनता से पैदा होनेवाली असाधारणता का भ्रम तोड़कर कहानियों की दुनिया में आते हैं। अकेला होना अद्वितीय होना भी है, ऐसा वे नहीं मानते। उनकी कहानियों में अकेलेपन का यह दैवीकरण नहीं मिलेगा। अपने साधारण पात्रों को भी उन्होंने मानवीय सत्ता की सम्पूर्ण समृद्धि दी है। इस अर्थ में उन्होंने प्रेमचंद की कथा-परम्परा को ही आगे बढ़ाया है।' बाज़ार की चकाचौंध ने साधारणता और लोक जीवन के सौन्दर्य से हमें धीरे-धीरे विस्थापित कर दिया है, ऐसे में रेणु की जन निष्ठा और लोक निष्ठा हमारे इकहरे सौन्दर्यबोध की निरर्थता का पुरजोर बयान करती है।

रेणु की कहानियों ने हिन्दी कथा-साहित्य में आंचलिकता को जन्म दिया, इसकी हिन्दी साहित्य में खूब चर्चा हुयी। बाद में आंचलिकता एक फैशन की तरह हो गई और कई परवर्ती रचनाकारों ने तो जनपदीय बोली को भोंड़े ढंग से शिल्प में ठूँस देने की योजना को ही आंचलिकता समझने लगे। यह ध्यान देनेलायक बात है कि उनकी रचनाओं में पूरीं जनपदीय संस्कृति ही मुखर है। जनपदीय संस्कृति की समग्र धड़कन, उन्हें स्थानीय की सीमा से बाहर निकालती है। सुरेन्द्र चौधरी का विश्लेषण है, 'रेणु की आंचलिकता एकदेशीय तत्व नहीं है। वह स्थानीय भी नहीं है। उसमें ग्रामांचलों की समस्त धड़कन कैद हैं। यही कारण है कि रेणु आंचलिक होकर भी स्थानीय नहीं रह जाते।' दरअसल रेणु की आंचलिकता उनके भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति है। उनके यहाँ सैलानी ढंग से अंचल नहीं देखा गया है, बल्कि जीवन जीया गया है।

स्वाधीनता के बाद के कथा आन्दोलन में मुख्य प्रवृत्ति शहरी मध्यमवर्ग के संवेदनाओं की अभिव्यक्ति रही। रेणु की अधिकांश कहानियाँ इस घेरे से निकलकर ग्रामीण-जीवन के स्पंदन से जुड़ी हैं। अपने पहले कहानी संग्रह 'ठुमरी' में उन्होंने समर्पण वाक्या लिखा, 'तेरे लिए मैंने लाखों के बोल सहे।' कहना न होगा कि इस समर्पण में ग्रामीण जीवन के प्रति अटूट राग और संवेदना उपस्थित है। इस वाक्य की अर्थवत्ता को और भी गहरायी से समझने के लिए रेणु की यह पुलकित अभिव्यक्ति देखी जा सकती है, जहाँ किसान का सहल उल्लास प्रकट है, 'धान की इतनी अच्छी फसल, जितनी अच्छी इस साल है, हो तो खेती करने में कविता करने का आनन्द है। खेती और कविता में ज़रा भी फर्क न लगे। एक बार ताइचून रोपते समय वर्षा में भींगते हुए मैंने एक कविता रची। मन हुआ कि राजकमल चौधरी को भेज दूँ। लेकिन बाद में भूल गया।.....मेरे विचार से तो अभी एक बीघा खेत में खेती कर लेना पाँच कहानियाँ लिखने से ज़्यादा फायदेमंद है।' जो लेखक लोक जीवन का ही एक सशक्त किरदार हो उसकी रचनाएँ रूप से अधिक ईमानदार, सजग और संवेदनशील होंगी।

रेणु की लोकसंस्कृतिमूलक आस्था उन्हें लोक संस्कृति के सौदागरों की आलोचना की ओर भी प्रेरित करती है। इस संदर्भ में 'रेखाएँःवृत्तचक्र' और 'भित्तिचित्र की मयूरी' कहानी देखी जा सकती है। मुक्त बाजार और प्रतिस्पर्धा ने लोककला और लोकसंस्कृति को भी बाज़ार और व्यापार की वस्तु बना दिया। इस सभ्यता का चुतर खिलाड़ी बड़े ही सधे ढंग से लोककला का व्यापार करता है। 'भित्तिचित्र की मयूरी' का कथानक गाँव के सरल और प्रतिभाशाली कलाकारों के शोषण का पर्दाफाश करता है। सनातन फूलपती की माँ की कला का व्यावसायिकता के हथियार से शोषण तो करता ही है अंत में फूलपती को भी वासना का शिकार बनाना चाहता है। रेणु की पैनी नज़र लोकजीवन में महाजनी सभ्यता की इस घुसपैठ को बड़ी बारीक ढंग से देख लेती है।

'तीसरी कसम', 'ठेस', 'जलवा', 'रसप्रिया', 'संवदिया' जैसी कहानियों में लोकसंस्कृतिमूलक आस्था तो है ही, तेजी से बदलती सामाजिक संरचना के भीतर आदमी और उसके सम्बन्धों के टूटने-बनने की प्रक्रिया भी है, जहाँ यथार्थ अपने प्राकृतिक रूप में है। ये कहानियाँ व्यक्ति और समाज के विघटन का एक्स-रे प्रस्तुत करती है। 'रसप्रिया' सिर्फ एक व्यक्ति की त्रासदी की कहानी

नहीं है, वर्ण-व्यवस्था की अमानवीयता झेलते उस समुदाय की कहानी भी है, जिसके लिए परम्परागत समाज में कोई जगह नहीं है। बिदापत (विद्यापति) नाच और रसप्रिया की साँस उखड़ चुकी है, और समाज को मिरदंगियों की ज़रूरत नहीं। पर पंचकौड़ी मिरदंगिया के जीवन का संगीत नहीं बदल सकता, चाहे जीवन ही टुकड़े-टुकड़े में खत्म होने की ओर क्यों न बढ़े। पंचकौड़ी मिरदंगिया की यह व्यथा कितनी गहरी है, 'हाँ, यह जीना भी कोई जीना है? निर्लज्जता है, और थेथरई की भी सीमा होती है।...पन्द्रह साल से वह गले में मृदंग लटकाकर गाँव-गाँव घूमता है, भीख माँगता है।...दाहिने हाथ की टेढ़ी उँगली मृदंग पर बैठती ही नहीं है, मृदंग क्या बजायेगा। वर्ण-व्यवस्था के दंश से अभिशप्त पंचकौड़ी सामान्य शब्द तक नहीं बोल सकता, दिल की बात ज़ुबान के पहले दिमाग द्वारा रोक ली जाती है, 'बेटा' कहते-कहते वह रूक गया।......परमानपुर में उस बार ब्राह्मण के लड़के को उसने प्यार से 'बेटा' कह दिया था। सारे गाँव के लड़कों ने उसे घेरकर मारपीट की तैयारी की थी- 'बहरदार' होकर ब्राह्मण के बच्चे को बेटा कहेगा? मारो साले बुढ़े को घेरकर ! मृदंग फोड़ दो। पंचकौड़ी और उसकी पूरी प्रतिभा हाशिए पर धकेले जाने के लिए अभिशप्त है। लोक गायकी की परम्परा के टूटने और बिखरने की यह कहानी बेहद मार्मिक है।

ग्राम-शिल्पी सिरचन की कला को वह समाज समझ नहीं पाता, जिसमें सामुदायिक संस्कृति के विध्वंस की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है। स्वाभिमानी सिरचन को जब चाची द्वारा ठेस पहुँचायी जाती है, तब वह गहरे स्तर पर आहत हो जाता है, 'इस शीतलपाटी को छूकर कहता हूँ, अब यह काम नहीं करूँगा।....गाँव भर में तुम्हारी हवेली में मेरी क़दर होती थी। ....अब क्या? मैं चुपचाप वापस लौट आया। समझ गया, कलाकार के दिल में ठेस लगी है। वह नहीं आ सकता।'

रेणु की प्रेम कहानियों में निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती की प्रेम कहानियों की तरह व्यक्तिवादी अहम्मन्यता, अस्तित्ववादी अकेलापन या कुछ-कुछ देवदास सरीखा शहीदानाभाव नहीं मिलता है। वे प्रेम को आत्ममुग्धता से दूर सामाजिक संदर्भों में देखते हैं। मिरदंगिया को अकेला, प्रेमहीन जीवन जब निरर्थक लगता है, वह रागबद्ध और लयबद्ध होकर मोहना तक पहुँचता है। बदलती समाज व्यवस्था में प्रेम की स्वीकृति 'पंचलाइट' में मिलती है, 'पंचलैट की रोशनी में सभी के चेहरे स्पष्ट हो गये। गोधन ने सबका दिल जीत लिया। मुनरी ने हसरत-भरी निगाह से गोधन की ओर देखा। आँखें चार हुई और आँखों-ही-आँखों में बात हुई- 'कहा-सुना माफ करना ! मेरा क्या क़सूर !' रेणु के कथा-संसार में हिरामन-हीराबाई का जोड़ा सबसे महत्वपूर्ण है। 'तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुलफाम' कहानी के इन पात्रों की स्मृति पाठकों के मन में बहुत दूर तक रहती है। हीराबाई नौटंकी की पतुरिया है-बहुत खूबसूरत, दूसरी तरफ हीरामन-चालीस साल का हट्टा-कट्टा, काला-कलूटा। प्रेम के मामले में दोनों का जीवन रेगिस्तान है। हीराबाई के जीवन में रूपलोभी तो बहुत आए, पर प्रेमी नहीं। उसने परख लिया- हिरमान सचमुच हीरा है। इस कहानी में प्रेम फैशन या व्यक्तित्व की शोभा नहीं है, वह अनुभव में अब तक न घटनेवाली आवश्यकता या सम्भावना है। हीरामन जैसा पात्र प्रेम कहानी का नायक बन सकता है, यह रेणु जैसा कहानीकार ही समझ सकता है। आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी की टिप्पणी गौरतलब है,

'हिरामन जैसा काला-कलूटा गाड़ीवान किसी प्रकार प्रेम का विषय नहीं बन सकता-पिछड़े सौन्दर्यबोध के अनुसार। ऐसा व्यक्ति फिल्मों और अधिकांश कथा साहित्य में प्रेमी के रूप में लाया जाता है तो हास्य विनोद के लिए। शोषक और बाज़ारू सौन्दर्य-बोध ने हमें भली-भाँति समझा रखा है कि प्रेम करना चिकने-चुपड़े गिजगिज-पुलपुल लोगों को ही फबता है। काले किसान-मज़दूर, निरक्षर, सामान्य सूरत शक्ल के या बदसूरत लोग न प्रेम करते हैं न कर सकते हैं। यह बोध सिर्फ किताबी, पिछड़ा और ग़लत ही नहीं, अमानवीय भी है। रेणु ने ठीक संधान किया है। 'हिरामन और हीराबाई को एक-दूसरे की आत्मीयता हासिल होती है। प्रायः प्रेम कहानियाँ वियोगांतक होती हैं। 'तीसरी क़सम' इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। रोमानी क्षणों की गहरी पकड़ रेणु को है। हीरामन को गाड़ी में रह-रहकर चम्पे के फूल की महक लगती है। वह सोचता है- 'औरत है या चम्पा का फूल'। यहाँ प्रेम के विकास को जितनी सुदृढ़ता और रागात्मकता से बुना गया है, वह अपने आप में अद्वितीय है। मगर यहाँ भी रेणु यथार्थ से नहीं कहते। हिरामन और हीराबाई का जीवन पठार-सा है पीछे भी आगे भी-दोनों अलग होने के लिए अभिशप्त होते हैं। महुआ घटवारिन को सौदागर ने खरीद लिया था और हीराबाई को सामंती एवं पूँजीवादी समाज ने।

रेणु के कथा-संसार का एक और अध्याय भी है जो 'बट बाबा' और 'तबे एकला चलो' जैसी रचनाओं से बना है। 'बट बाबा' ग्रामीण मिथक से जुड़ी हुयी विलक्षण संवेदना की कथा है। प्रायः गाँव में किसी वृक्ष से जुड़ी असंख्य कहानियाँ होती हैं जिनके मूल में आस्था और विश्वास होता है। भारतीय गाँव की इस धड़कन को पहचानने का अचूक प्रयास है- 'बट बाबा' का रचना संसार। बट बाबा का न रहना कितना यंत्रणादायक था रेणु के लिए- 'अचानक कलेजा धक ! बट बाबा कहाँ है? गाँव के उत्तर, सड़क के किनारे विशाल बट-वृक्ष नहीं है ! और बट वृक्ष के बिना सारा गाँव नंग-धड़ंग।'

ग्रामीण पृष्ठाधार पर लिखी गई रेणु की अनेक कहानियों की पूरी बनावट लोकगीतों पर आधारित है। कहानीकार रेणु की यह विलक्षण विशेषता है। लोक संस्कृति के पृष्ठाधार में संगीत की आधारभूत उपस्थिति की अनुगूँज को जितना रेणु ने पहचाना है, उतना कम ही कथाकारों ने। उदाहरण के लिए उनकी 'पहलवान की ढोलक' कहानी देखी जा सकती है। ढोलक की थाप और पहलवान के पैंतरे के रिश्ते को रेणु ने इस प्रकार ज़बान दी है :-

'चट-धा, गिड़-धा, चट-धा, गिड़ धा......

दोनों युवक पहलवान पैंतरा भरने लगे। भारी आवाज़ में एक ढोल, जो अब तक चुप था, बोलने लगा-ढाक्-ढिन्ना-, ढाक्-ढिन्ना, ढाक्-ढिन्न...अर्थात् वाह पट्ठे ! वाह पट्ठे !!

लुट्टन को चाँद ने कसकर दबा लिया था।

"अरे, गया-गया'- दर्शकों ने तालियाँ बजायी- 'हलुआ हो जायेगा, हलुआ-हँसी खेल नहीं, शेर का बच्चा है-बच्चू!"

चट्-गिड़-धा, चट्-गिड़-धा-अर्थात् मत डरना ! मत डरना !!

रेणु की 'तीसरी क़सम' के गीत तो लोगों की जुबान पर चढ़ गए। निर्मल वर्मा कहते हैं, रेणु की कहानियाँ 'म्यूजिक कन्सर्ट' का अहसास देती हैं।

रेणु की कहानियाँ तेज़ी से समाप्त हो रही लोक-ध्वनियों, उत्सवों, रंगों की सांस्कृतिक सम्पन्नता का आख्यान प्रस्तुत करती हैं । हमारे समाज की मुख्यधारा में लोक-संस्कृति की विरासत के लिए अवसर दिनों-दिन सिमटते जा रहे हैं, ऐसे में कहानियाँ कहीं-न-कहीं हमें चुनौती का अहसास भी कराती हैं। यहाँ प्रसंगवश आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी की तल्ख टिप्पणी की याद आ जाना स्वाभाविक है, जिसे उन्होंने रेणु के रचना-संसार के विश्लेषण क्रम में लिखा था, 'पूँजीवाद लोक संस्कृति का नाशक है। अधिक-से-अधिक वह उसके विकृत रूप का ग्राहक या विक्रेता हो सकता है। भारत की लोक परम्परा सजीव है तो सरस भी है। निम्न वर्ग के जन उसी सरस प्राण-वायु का सेवन करके शोषकों की अपेक्षा अपने चित्त को अधिक स्वस्थ एवं निर्मल रखते हैं। उद्योगपतियों, मन्त्रियों, नौकरशाहों, विश्वविद्यालयों के अध्यापकों की किस्मत में आल्हा, कजरी, चैती, चनैनी, नौटंकी, फाग सुनना कम होता जा रहा है। यह केवल व्यावसायिक व्यस्तता की ही बात नहीं है, यह रूचि और जीवन्तता की भी समस्या है, लोक-जीवन की प्राणदायिनी परम्परा को पूँजीवादी तन्त्र द्वारा काट दिये जाने की समस्या है।'

संदर्भ :

1) रेणु रचनावली, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 1995, पृ.सं. 16
2) वहीं, पृ.सं. 16
3) कला का जोखिम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.सं.69
4) रेणु रचनावली, भाग-1 राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष, 1995, पृ.सं. 17
5) फणीश्वरनाथ रेणु-साहित्य अकादमी, पृ.सं. 29,30
6) वहीं, पृ.सं.
7) रेणु रचनावली, भाग-4, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 1995, पृ.सं. 390
8) रेणु रचनावली, भाग-1, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 1995, पृ.सं. 127
9) वहीं, पृ.सं.127
10) वहीं, पृ.सं. 10
11) वहीं, पृ.सं. 196
12) समीक्षा-दशक, हिन्दी अकादमी, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 1992, पृ. सं. 259
13) रेणु रचनावली, भाग-1, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष, 1995 पृ.सं. 22
14) वहीं, पृ.सं.27
15) समीक्षा-दशक, हिन्दी अकादमी, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 1992, पृ.सं.259